P: ISSN NO.: 2321-290X RNI : UPBIL/2013/55327 VOL-6* ISSUE-9*(Part-1) May- 2019
E: ISSN NO.: 2349-980X **Shrinkhla Ek Shodhparak Vaicharik Patrika**

'जूठन' में दलित विमर्श

सारांश

ओमप्रकाश वाल्मीकि द्वारा रचित 'जूठन' दलित साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं में से है। इस आत्मकथा में उन्होंने भारतीय समाज और इतिहास के बंद पड़े ऐसे पृष्ठों को खोलकर हमारे सामने रखा है जहाँ धर्म के नाम पर शोषण, अन्याय, अत्याचार और दमन का वीभत्स खेल खेला जा रहा था, मनुष्यता को कलंकित किया जा रहा था। आत्मकथा 'जूठन' से गुजरना वस्तुतः उस सामाजिक यथार्थ से रू–ब–रू होना है, जहाँ शोषण, दमन, अन्याय, अत्याचार सब जायज है। साथ ही, ऐसी विषम परिस्थितियों के बीच एक दलित रचनाकार किस तरह अपनी चेतना का निर्माण और विकास करता है, यह भी ज्ञात होता है। यह आत्मकथा इस बात की भी माँग करती है कि दलितों को भी एक मनुष्य के रूप में सम्मान के साथ जीने का अवसर तथा अधिकार प्राप्त हो।

मुख्य शब्द : जूठन, अस्पृश्यता, जिजीविषा, ब्राह्मणवाद, सामंतवाद, दलित पैंथर।

विभा कुमारी
एसोसिएट प्रोफेसर,
हिन्दी विभाग,
कल्याणी विश्वविद्यालय,
कल्याणी,नदिया, पश्चिम बंगाल, भारत

प्रस्तावना

यह तो निर्विवाद सत्य है कि जीवन सदैव अपनी शर्तों पर चलता है और प्रत्येक इंसान के लिए ये शर्तें भिन्न होती है। यही शर्तें इंसान के जीवन की दिशा और दशा तय करती है। जहाँ ये शर्तें बहुत ज्यादा कड़ी होती हैं, वहां मात्र दो ही विकल्प शेष रह जाते हैं। एक तो यह कि इंसान परिस्थितियों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दे और चुपचाप यथास्थिति को स्वीकार ले। दूसरा विकल्प यह है कि वह स्वयं को संघर्ष की आग में झोंक दे और परिस्थितियों के विरुद्ध लड़ मरे, अपनी जिजीविषा को बनाए रखे। दूसरा विकल्प निश्चय ही अत्यंत कठोर और कठिन है क्योंकि अपना सर्वस्व होम करने के पश्चात् भी परिणाम शून्य हो सकता है। पर सकारात्मक परिवर्तन की कामना करने वाला यह अनुमान लगा कर ही चलता है कि शून्य से आरम्भ होकर उसके हाथ शून्य ही लगने वाला है। लेकिन उससे जुड़ी जिंदगियों, उसके जीने की परिस्थितियां बहुत कुछ बदल जाती है। यही संतोष संघर्ष करने वाले का पारितोषक है और यही उसके जीवन की उपलब्धि भी। इसी उपलब्धि का एक प्रमाण हमारे सामने ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन' है।

'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि जीवन के हर अनुभव से कुछ न कुछ ग्रहण करते चलते हैं। आत्मकथाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि 'जूठन' में दोहरी भूमिका निभाते हैं। वह समाज के संचालक हैं और समाज द्वारा संचालित भी। वह समाज का निष्कर्ष भी है और समाज की नियति भी। अपने सामाजिक और पारिवारिक अनुभवों से वह कुछ ऐसा सीखते हैं जो समग्र दलित समाज के लिए सबक है और जब कभी जीवन की तंग संकरी यातनापूर्ण गलियों से सफलतापूर्वक सफ़र करके पार उतरते हैं तो समाज के लिए प्रेरक भी बन जाते हैं।

अध्ययन का उद्देश्य

इस लेख को पढ़कर ओमप्रकाश वाल्मीकि के जीवन और उनके जीवन–संघर्ष से परिचित हो सकेंगे। साथ ही, भारतीय समाज में दलितों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति से भी अवगत हो सकेंगे।

विषय विस्तार

व्यक्ति के विकास में उसके सामाजिक परिवेश की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। बालक एक पौधे की तरह होता है उसे जैसा खाद–पानी मिलेगा, वैसा उसका विकास होगा। लेकिन भारतीय समाज की संरचना अजीब है। यहाँ समाज का विभाजन और निर्धारण व्यक्ति के जन्म के आधार पर होता है। इस समाज व्यवस्था में दलित समाज में पैदा होने वाले मासूम पौधे की जड़ों में दीमक लगाने का कुचक्र रचा जाता रहा है। 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि दलित समाज की दुर्दशा को दैवीय नहीं, बल्कि मानव निर्मित बताते हैं। हिंदूवादी षड्यंत्र के चुंगल में फंसा दलित समाज अमानवीय पशुवत जीवन जी रहा है।

दलित समाज की पीड़ा यह है कि उसे मनुष्य का जीवन मिलने के बाद भी मनुष्य के रूप में स्वीकृति नहीं मिल रही है। अगर दलित को मनुष्य के रूप में जन्म लेने के बावजूद भी मनुष्य की तरह जीने की स्वीकृति नहीं मिलेगी तो जाहिर है कि मनुष्य के रूप में जीने का अवसर और अधिकार भी नहीं मिलेगा। अर्थात दलित को मनुष्य नहीं मानने के लिए इस तरह का सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तंत्र रचा गया है कि उसे मनुष्य बनने ही ना दिया जाये। 'जूठन' सवर्णों द्वारा दलित को पशुवत जीवन जीने के लिए रचे गए षड्यंत्रों से उत्पन्न सामाजिक यथार्थ का विरूप चित्र प्रस्तुत करता है। सामाजिक सड़ांध को उजागर करने वाली अपनी इस आत्मकथा की भूमिका में ओमप्रकाश वाल्मीकि लिखते हैं – ''दलित जीवन की पीड़ाएं असहनीय और अनुभवदग्ध है। ऐसे अनुभव जो साहित्यिक अभिव्यक्तियों में स्थान नहीं पा सके। एक ऐसी समाज व्यवस्था में हमने साँसें ली हैं, बेहद क्रूर और अमानवीय है। दलितों के प्रति असम्वेदनशील भी।''[1]

'जूठन' दलित जीवन की मर्मांतक पीड़ा का दस्तावेज है। जीवन की सुख सुविधा और तमाम नागरिक सहूलियतों से वंचित दलित जीवन की त्रासदी उनके व्यक्तिगत वजूद से लेकर घर, परिवार, बस्ती और पूरी सामाजिक व्यवस्था तक फैली हुई है जिसका संकेत लेखक आत्मकथा के आरम्भ में ही दे देता है – ''हमारा घर चन्द्रभान तगा के घर से सटा हुआ था। उसके बाद कुछ परिवार मुसलमान जुलाहों के थे। चन्द्रभान तगा के घर के ठीक सामने एक छोटी–सी जोहड़ी थी, जिसने चूहड़ों के बगड़ और गाँव के बीच एक फासला बना दिया था। जोहड़ी का नाम डब्बोवाली था। डब्बोवाली नाम कैसे पड़ा, कहना मुश्किल है। हाँ, इतना जरुर है कि इस डब्बोवाली जोहड़ी का रूप एक बड़े गड्ढे के समान था जिसके एक ओर तगाओं के पक्के मकानों की ऊँची दीवारें थीं। जिनसे समकोण बनती हुई झींवरों के दो–तीन परिवारों के कच्चे मकानों की दीवारें थीं। उसके बाद फिर तगाओं के मकान थें।

जोहड़ी के किनारे पर चूहडों के मकान थे, जिनके पीछे गाँव भर की औरतें, जवान लड़कियां, बड़ी–बूढ़ी यहाँ तक कि नई नवेली दुल्हनें भी इसी डब्बोवाली के किनारे टट्टी–फरागत के लिए बैठ जाती थीं। रात के अँधेरे में ही नहीं, दिन के उजाले में भी पर्दों में रहने वाली त्यागी महिलाएं घूंघट काढ़े, दुशाले ओढ़े इस सार्वजनिक खुले शौचालाय में निवृति पाती थीं। इसी तरह गाँव भर के लड़ाई–झगड़े गोलमेज कॉन्फ्रेंस की शक्ल में चर्चित होते थे। चारों तरफ गन्दगी भरी होती थी। ऐसी दुर्गन्ध कि मिनट भर में सांस घुट जाए। तंग गलियों में घूमते सूअर, नंग धड़ंग बच्चे, कुत्ते, रोजमर्रा के झगड़े, बस यह था वह वातावरण जिसमें बचपन बीता। इस माहौल में यदि वर्ण–व्यवस्था को आदर्श–व्यवस्था कहने वालों को दो–चार दिन रहना पड़ जाए तो उनकी राय बदल जायेगी।''[2]

चूहड़ों के बस्ती के ऐसे ही परिवार में लेखक ओमप्रकाश का जन्म हुआ था। परिवार में पांच भाई, एक बहन, दो चाचा और एक ताऊ थे। घर में बच्चे–बूढ़े सभी कोई–न–कोई काम करते थे, फिर भी दो जून की रोटी किसी प्रकार ही जुट पाती थी। साफ़–सफाई और मेहनत–मजदूरी के कठिन कामों की भी मजदूरी इतनी कम मिलती थी कि उसमें परिवार का खर्च चलाना मुश्किल होता। ऊपर से बेगारी, गाली–गलौज, मार–धाड़, प्रताड़ना अलग से। माँ और बहन भी दूसरों के खेत–खलिहानों में काम करती। माँ–बहनों के मुख्य काम बड़े लोगों के गोशाला, दालान, पाखानों की सफाई करना था, जिसके लिए उन्हें फटे–पुराने कपड़े या कुछ अनाज की मजदूरी निर्धारित थी। यज्ञ–त्योहार और शादी–विवाह के अवसर पर सहभोज का आयोजन होता है। उसमें माँ टोकड़े लेकर जाती और सबके खाने के बाद जूठी पत्तल बटोर कर उसके जूठन को जमा करती। यही लेखक के परिवार का भोजन होता। उसे कई दिनों तक सुखा–सुखा कर खाया जाता।

बालक ओमप्रकाश के व्यक्तित्व पर उनके माता–पिता के विचारों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। सामाजिक उत्पीड़न और आर्थिक विपन्नता की मार झेलते हुए भी इनके माता–पिता रुग्ण सामाजिक परम्पराओं को बदलने एवं अपने स्वाभिमान को बनाए रखने का प्रयास करते हैं, यद्यपि यह बहुत मुश्किल है। जहां भी उनके आत्मसम्मान पर प्रहार हुआ, वे उसका पुरजोर विरोध करते हैं। एक दिन सुखदेव सिंह के घर बेटी का विवाह था। बारातियों के खा लेने के बाद माँ ने भोज के बचे जूठन उठा लिए थे। अंत में माँ ने, जो शादी के दस बारह दिन पहले से सुखदेव सिंह त्यागी के घर–आँगन से लेकर बाहर तक के अनेक काम की थी, सुखदेव सिंह से बच्चों के लिए एक पत्तल भोजन माँगा। इस पर सुखदेव सिंह ने टके–सा जवाब दिया– ''टोकरा भर तो जूठन ले जा री है... ऊपर से जातकों के लिए खाणा मांग री है? अपनी औकात में रह चूहणी ! उठा टोकरा और दरवाजे से चलती बन।''[3] माँ के आत्मसम्मान को चोट पहुँचता है। वह जूठन से भरा हुआ टोकड़ा दरवाजे पर फेंक कर विरोध प्रकट करती है और कहती है– ''इसे ठाके अपने घर में धर ले। कल तड़के बारातियों को नास्ते में खिला देणा...''[4] और हम दोनों भाई बहनों का हाथ पकड़ कर तीर की तरह उठ कर चल देती है। सुखदेव सिंह माँ पर हाथ उठाने के लिए झपटता है लेकिन माँ भी बिना डरे शेरनी की तरह सामना करती है। इस घटना के बाद उनके घर में जूठन उठाने की परंपरा समाप्त हो गयी। यह क्रांतिकारी परिवर्तन साहसी माँ के आत्मविश्वास के कारण ही संभव हुआ। जो ओमप्रकाश के साथ–साथ बाक़ी वाल्मीकि समाज के लिए प्रेरणा का स्त्रोत बना। ठीक इसी प्रकार, जब उनके पिता यह देखते हैं कि स्कूल का हेड मास्टर बालक ओमप्रकाश से पूरे स्कूल में झाड़ू लगवा रहा है, तो वे सीधे हेडमास्टर कलीराम के पास जा कर इसका विरोध दर्ज करते हैं और न मानने पर इसकी शिकायत गाँव के प्रधान चौधरी साहब से कर देते हैं। स्पष्टवादिता, निर्भीकता और गलित परम्पराओं को चुपचाप न सहने एवं परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए उसे बदलने और लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने की प्रवृति ओमप्रकाश ने अपने माता–पिता से प्राप्त की।

भारतीय समाज में 'वर्ण' एवं 'जाति' केन्द्रित समाज–व्यवस्था को मजबूत करने वाली मुख्यतः दो संरचनाएं रही हैं –सामंतवाद और ब्राह्मणवाद। सामंतवाद के केंद्र में 'ताकत' है जो उसे जमीन से प्राप्त होती है। जिसके पास अपनी जमीन होती है, वह अपने लिए घर से लेकर कुँए तक बनवाता है। खेती–बाड़ी करता है तथा अन्नोत्पादन की प्रक्रिया से जुड़ता है। जिसके पास जमीन नहीं है, वह न तो अपने लिए घर बना सकता है, न ही पानी पीने के लिए कुँए खुदवा सकता है, न खाने के लिए अन्न का उत्पादन ही कर सकता है। इसी प्रकार ब्राह्मणवाद के केंद्र में 'ज्ञान' है जो उसे शिक्षा संस्थान से प्राप्त होता है। जिसके पास ज्ञान है वह समाज में गतिशील रह सकता है। जिसके पास इन दोनों की मिश्रित संरचना है अथवा ये दोनों हैं वह 'सत्ता' अथवा समाज को संचालित करनेवाली संरचना के केंद्र में होता है या यूँ कहें कि वह सत्ता और सामाजिक विकास से जुड़े समस्त कारकों को संचालित एवं नियंत्रित करने में सक्षम होता है। भारतीय समाज में दलित प्रारम्भ से ही 'ताकत' और 'ज्ञान' की प्रक्रिया से बाहर रहे हैं अथवा यह कह सकते हैं कि हमारी सामाजिक निर्मितियों में इन्हें 'ज्ञान' और 'ताकत' से वंचित रखा गया है।

ब्राह्मवादियों और सवर्ण सामंतवादियों द्वारा सदियों से 'शस्त्र' और 'शास्त्र' के बल पर दलितों का दमन और शोषण होता रहा है। हिन्दू धर्म व्यवस्था ने दलितों की छाया, स्पर्श और वाणी अस्पृश्य मानी है। जन्मतः मनुष्य को 'अस्पृश्य' और 'गुनाहगार' माना है। दलित संपत्ति न जमा करें, वे गाँव के बाहर रहें, वे मिट्टी के बर्तनों में ही अन्न ग्रहण करें, वे सोने के आभूषण न पहनें आदि – ऐसे आदेश हिन्दू धर्मग्रंथों में भरे पड़े हैं। हमारे देश का चाहे कोई भी हिस्सा हो, दलितों पर होने वाले जुल्म प्रायः एक–सा ही रहा है जैसे– सामाजिक बहिष्कार, अलग पनघट, अलग बस्ती, अलग श्मशान, जाति छुपाने की विवशता, सार्वजनिक स्थान में प्रवेश के लिए मनाही, मृत जानवर को खींचना–फाड़ना आदि। देहात से लेकर नगरों– महानगरों तक में आज भी दलित सवर्णों के उत्पीड़न का शिकार बना हुआ है, जो चिंता और चिंतन का विषय है। यद्यपि आज इस उत्पीड़न का बंधन थोड़ा ढीला अवश्य हुआ है पर पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ है। कहने के लिए तो महात्मा गांधी ने उन्हें 'हरिजन' कहकर हिन्दू धर्म और समाज में सम्मिलित करने का प्रयास किया पर लेखक के मन में बार–बार एक प्रश्न उठता रहता है कि – ''यदि हिन्दू होता तो हिन्दू मुझसे इतनी घृणा, इतना भेदभाव क्यों करते? बात–बात पर जातीय–बोध की हीनता से मुझे क्यों भरते? मन में यह भी आता था कि अच्छा इंसान बनने के लिए जरुरी क्यों है कि वह हिन्दू ही हो ...हिन्दू की क्रूरता बचपन से देखी है, सहन की है। जातीय श्रेष्ठता का भाव अभिमान बनकर कमजोर को ही क्यों मारता है? क्यों दलितों के प्रति हिन्दू इतना निर्मम और क्रूर है?''[5]

'जूठन' के माध्यम से लेखक ने भारतीय समाज, संस्कृति, धर्म और इतिहास में पवित्र तथा उत्कृष्ट समझे जानेवाले तीन प्रतीकों– शिक्षण संस्थान, गुरु यानी शिक्षक एवं प्रेम पर कड़ा प्रहार किया है तथा यह दिखाने का प्रयास किया है कि दलित समाज को अपने व्यक्तित्व–निर्माण और सामाजिक विकास की प्रक्रिया में इन तीन प्रतीकों की नकारात्मक भूमिकाओं का सामना करना पड़ता है। शिक्षण संस्थानों में मार खाते और प्रताड़ना सहते हुए भी लेखक इसलिए पढाई जारी रखता है कि ''पढ़–लिखकर जाति सुधारनी है।''[6] लेकिन यह जाति सिर्फ पढने– लिखने से नहीं सुधर जाती। पढ़–लिखकर और नौकरी प्राप्त कर वह जीवन में पद और धन तो जरूर प्राप्त कर सकता है पर समाज में मान और प्रतिष्ठा नहीं मिलती है। इस जन्मना जाति व्यवस्था में जब तक दलितों के साथ 'दलित' की पहचान जुड़ी हुई है, उन्हें सामाजिक श्रेष्ठता में शामिल नहीं किया जा सकता। समाज चाहे उन्हें जिस रूप में पहचान दे दे, विवाह और स्त्री–पुरुष संबंधों में उनके साथ समानता का व्यवहार करना मुश्किल है। 'जूठन' के कुलकर्णी जैसे लोग कितने ही प्रगतिशील क्यों न हो जाएँ, जब भी प्रेम एवं विवाह का प्रसंग आयेगा, 'जाति' नामक ताकतवर दीवार इनके बीच में आकर खड़ी हो जाएगी। जाति उसे हर जगह घेरे खड़े मिलेगी। पारम्परिक पवित्रता उसे उस दीवार से आगे बढ़ने नहीं देगी। 'जूठन' का यही यथार्थ है। लेखक जब सविता कुलकर्णी को यह बताता है कि उसका जन्म उत्तर प्रदेश के 'चूहड़ा' परिवार में हुआ है तो वह रोने लगती है। लेखक लिखते हैं – ''मेरा एस.सी. होना जैसे कोई अपराध था। वह काफी देर सुबकती रही। हमारे बीच अचानक फासला बढ़ गया था। हजारों साल की नफरत हमारे दिलों में भर गई थी। एक झूठ को हमने संस्कृति मान लिया था।''[7]

'जूठन' में दिलचस्प घटनाएं ही नहीं, दिल दहला देने वाले जीवन–प्रसंग हैं, सोचकर दहशत होती है। जिस अमानुषिक, दमघोंटू वातावरण में एक दलित बच्चा पढ़ता–लिखता है, वहां कदम–कदम पर यातना, हर मोड़ पर विष–बुझे संबोधन, जगह–जगह दुत्कार एवं औकात का अहसास कराते लोगों का अंतहीन सिलसिला है, क्रूरता की पराकाष्ठा है। प्राथमिक विद्यालय में पढ़ रहे एक दलित बालक के साथ सवर्ण गुरु का अनुदार व्यवहार सिद्ध करता है कि शिक्षित होकर भी व्यक्ति जातिभेद की भावना से मुक्त नहीं हो पाया है। वे द्रोणाचार्य की परम्परा में खड़े होकर आज के एकलव्यों को शिक्षण संस्थान में शिक्षा ग्रहण करना दुर्लभ कर देते हैं। दलित समुदाय के बहुत से बच्चे शिक्षक के रौद्र रूप से भयभीत होकर शिक्षा ग्रहण करना ही छोड़ देते हैं। दलितों में शिक्षा के कम प्रसार का एक बड़ा कारण उनके शिक्षकों का आभिजात्य वर्ग से होना है। साथ ही उनका दलित छात्रों के साथ मारपीट, क्रूरता से पेश आना है। जब पहली बार कोई बच्चा घर– परिवार को छोड़ स्कूल में पढने जाता है और वहां उसे क्रूर और असंवेदनशील अध्यापक मिले, वह उसे मारे–पीटे, तो वहां सीधा–सादा मासूम बच्चा कैसे रूक पायेगा? यह सोची समझी चाल ही है कि वह पढ़–लिखकर इतना सभ्य न बन जाए कि स्वयं को जातीय संस्कारों से ऊपर उठा ले। छात्रों को पढ़ाने से अधिक उन्हें मारने– पीटने और दुत्कारने वाले शिक्षकों की संख्या आज भी कम नहीं है। लेखक लिखते हैं – ''अध्यापकों का आदर्श रूप जो मैंने देखा, वह अभी तक

मेरी स्मृति से मिटा नहीं है। जब भी कोई आदर्श गुरु की बात करता है तो वे तमाम शिक्षक याद आ जाते हैं जो माँ– बहन की गालियाँ देते थे। सुंदर लड़कों के गाल सहलाते थे और उन्हें अपने घर बुलाकर उनसे वाहियातपन करते थे।''[8]

ओमप्रकाश जैसे बच्चे, माता–पिता की जागरूकता एवं स्वयं की योग्यता के कारण ही इतने दमन और उत्पीड़न के बावजूद पढ़ पाते हैं पर अधिकांश लोग तो बीच में ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। एक दिन हेडमास्टर कलीराम स्कूल में पढ़ने आये ओमप्रकाश से उसका नाम और जाति पूछने के बाद स्कूल के लम्बे–चौड़े प्रांगण की सफाई के काम में लगाते हुए कहते हैं – ''ठीक है .....वह जो सामने शीशम का पेड़ खड़ा है, उस पर चढ़ जा और टहनियां तोड़के झाड़ू बणा ले, पत्तोवाली झाड़ू बणाना और पूरे स्कूल कू ऐसा चमका दे जैसा सीसा। तेरा तो ये खानदानी काम है। जा, फ़टाफ़ट लग जा काम पे।''[9] लेखक मैदान की सफाई में लग जाता है जबकि बाकी बच्चे चैन से पढ़ रहे थे। दो दिनों तक यह क्रम चला। तीसरे दिन बालक चुपचाप कक्षा में जाकर बैठ जाता है। थोड़ी देर बाद हेडमास्टर की दहाड़ सुनाई पड़ती है– ''अबे, ओ चूहड़े के, मादरचोद कहाँ घुस गया.....अपनी माँ.... ''[10] उसकी दहाड़ सुनकर बालक थर–थर कांपने लगता है। एक त्यागी लड़के ने चिल्लाकर कहा – ''मास्साब, वो बैट्ठा है कोणे में।''[11] यह सुनते ही ''हेडमास्टर ने लपककर मेरी गर्दन दबोच ली थी। उनकी अँगुलियों का दबाव मेरी गर्दन पर बढ़ रहा था। जैसे कोई भेड़िया बकरी के बच्चे को दबोचकर उठा लेता है। कक्षा से बाहर खींचकर उसने मुझे बरामदे में ला पटका। चीखकर बोले, जा लगा पूरे मैदान में झाड़ू ....नहीं तो गांड में मिर्ची डालके स्कूल से बाहर काढ़ दूंगा।''[12] एक अध्यापक छात्र में सेवा–सफाई की आदत डाले तो यह सफाई कार्य करना किसी भी छात्र का कर्त्तव्य है, या 'राष्ट्रीय सेवा योजना' के तहत सभी छात्रों से सफाई कराई जाए, तो स्वीकार्य है किन्तु यहाँ तो बेगारी थी। यह दलित होने की सजा थी। घृणा की भावना थी। गुरु के रूप में द्रोणाचार्य थे। अधिकांश गाँवों में यह स्थिति अभी भी नहीं बदली है। जाति भावना से ग्रसित लोग मजबूरन ही दलित बच्चों को स्कूल में दाखिला देते हैं। छात्र ओमप्रकाश 'द्रोणाचार्य' नामक पाठ पढ़ाये जाने के दौरान अपने मन में उठे प्रश्न को अध्यापक के सामने रखता है, जो किसी भी विद्यार्थी का अधिकार है। ''अश्वत्थामा को तो दूध की जगह आटे का घोल पिलाया गया और हमें चावल का मांड। फिर किसी भी महाकाव्य में हमारा जिक्र क्यों नहीं आया? किसी महाकवि ने हमारे जीवन पर एक भी शब्द क्यों नहीं लिखा?''[13] यह सुनकर मास्टर साहब चीख उठते हैं क्योंकि दलितों के प्रश्न करने का अधिकार भी इसी सवर्ण वर्ग ने अपने निहित स्वार्थों के चलते छीन लिया था। ''चूहड़े के, तू द्रोणाचार्य से अपनी बराबरी करे है ....ले तेरे ऊपर मैं महाकाव्य लिखूंगा .....''[14] उसने लेखक की पीठ पर सटाक–सटाक छड़ी से महाकाव्य रच दिया था। लेखक लिखते हैं – ''वह महाकाव्य आज भी मेरी पीठ पर अंकित है। भूख और असहाय जीवन के घृणित क्षणों में सामंती सोच का यह महाकाव्य मेरी पीठ पर ही नहीं, मेरे मस्तिष्क के रेशे–रेशे पर अंकित है।''[15] इस सन्दर्भ में दलित पत्रकार कँवल भारती का यह कथन उल्लेखनीय है कि – ''यह आत्मकथा वास्तव में पीठ पर अंकित महाकाव्य ही है जो मास्टर ने नहीं, व्यवस्था ने अंकित किया है। यह व्यवस्था सवर्ण के लिए स्वर्ग और दलितों के लिए नरक का निर्माण करती है।''[16]

बरला इंटर कॉलेज के पी.टी.मास्टर फूलसिंह त्यागी बड़े ही गुस्सैल व्यक्ति थे। उनके मुंह से बात–बात में गाली निकलती थी। एक दिन प्रार्थना–सभा में खड़े–खड़े कुछ लड़के शरारत कर रहे थे। वर्ग मॉनीटर रामसिंह ने उन्हें टोका। दूर खड़े मास्टर को लगा कि रामसिंह ही कोई शरारत कर रहा है। वहीं से चिल्लाए – ''अबे, काले दरोगा(वे रामसिंह को इसी नाम से पुकारते थे) सीधा खड़ा रह ...वरना पीट–पीट कर टेढ़ा कर दूंगा।''[17] इस काले संबोधन पर सभी लड़के हँस पड़ें जिससे मास्टर फूलसिंह और ज्यादा चिढ गए। हँसे तो सभी थे पर मास्टर जी मेरे पीछे खड़े सुरजन सिंह को ही पीटने लगे। लात–घूसों की बौछार अप्रत्याशित थी। वे सुरजन सिंह को जिस बेरहमी से पीट रहे थे, उसे देखकर यह नहीं लग रहा था कि कोई अध्यापक छात्र को सजा दे रहा है बल्कि लगता था कि कोई जालिम गुंडा किसी निर्दोष को पीट रहा है। सुरजन सिंह जमीन पर गिर पड़ा था, फिर भी उस पर लात–घूसे चल रहे थे। उस समय फूलसिंह द्वारा कहा गया यह संवाद कांच पर खींच दी गई लकीर–सा लेखक की स्मृति में आज भी गूँज रहा है – ''अबे, साले, चूहड़े के औलाद, जब मर जाएगा बता देना। बहुत हीरो बणे है, आज काढ़ूँगा तेरी जुल्फों से तेल।''[18] सुरजन सिंह पर जो बीती सो बीती, पर लेखक की स्मृति में यह अमानवीय हादसा आज भी ताजा है, वैसी ही दहशत उनकी चेतना पर छाने लगती है। सुरजन सिंह की कोई गलती नहीं थी। फिर भी उसे पीटा गया। यदि हंसना अपराध था तो सभी हँसे थे। फिर सुरजन सिंह को ही सजा क्यों मिली? लेखक लिखते हैं – ''ऐसे ही आदर्श शिक्षकों से पाला पड़ा था उस समय। बचपन से किशोर अवस्था की ओर बढ़ते हुए जब व्यक्तित्व का निर्माण हो रहा होता है, तब ऐसे दहशत भरे माहौल में जीना पड़ा। इस पीड़ा का अहसास उन्हें कैसे होगा जिन्होंने घृणा और द्वेष की बारीक सूइयों का दर्द अपनी त्वचा पर कभी महसूस नहीं किया? अपमान जिन्हें भोगना नहीं पड़ा? वे अपमान का बोध कैसे जान पायेंगे? रेतीले ढूंह की तरह सपनों के बिखर जाने की आवाज नहीं होती। भीतर तक हिला देने वाली लकीर खिंच जाती है जिस्म के आर–पार। कभी–कभी लगता है जैसे क्रूर और आदिम सभ्यता में सांस लेकर पले–बढ़े हैं।''[19]

शिक्षकों द्वारा दलित छात्रों के साथ उत्पीड़न के कठोर यातना–क्रम प्राथमिक स्कूल से ही शुरू हो जाते हैं जो बड़ी कक्षाओं में पहुँचने पर उत्पीड़न और भेदभाव में बदल जाते हैं। अस्पृश्यता शारीरिक रूप से हटकर बौद्धिक और मानसिक रूप ग्रहण कर लेती है। वृजपाल सिंह जैसे अध्यापक दलित छात्रों को प्रैक्टिकल में कम अंक देकर भविष्य को अधर में अटकाते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि उच्च शिक्षा संस्थानों में दलितों की भागीदारी कम होती जाती है। यह ऐसी समाज

व्यवस्था है जहाँ सब कायदे कानून कमजोर पड़ जाते हैं और जातिगत संस्कारों की पकड़ बढती जाती है। लेखक के बचपन की यह घटना केवल इस बात की मांग नहीं करती है कि प्राइमरी अध्यापक दलित बच्चों के साथ तमीज से पेश आयें बल्कि वह शिक्षा–तंत्र का वह नमूना भी पेश करती है जिससे समतामूलक समाज–निर्माण के पक्ष में परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हो।

इस प्रकार स्कूल के मास्टर से लेकर गाँव के सामंत और सेठ–साहूकार और यहाँ तक कि सरकारी अफसर और पुलिस–दरोगा भी उन्हीं का शोषण करते हैं। लेखक ने दलितों पर होने वाले दरोगा के जुल्मों को अपनी आँखों से देखा था। गाँव में चकबंदी चल रही थी। कोई बड़ा अफसर आने वाला था। हमेशा की तरह भंगी बस्ती में एक सरकारी कर्मचारी आया। साफ़–सफाई के लिए मुफ्त में कुछ भंगियों की जरुरत थी। पिछला अनुभव यह था कि कई–कई दिनों तक लोग गालियाँ सुन–सुन कर भी भूखे–प्यासे कोठी की सफाई में लगे रहे थे। मगर मजदूरी का एक पैसा भी नहीं मिला। पुलिस के सिपाही बस्ती से मुर्गे–मुर्गियां उठाकर ले गये, सो अलग। कहीं कोई सुनवाई नहीं थी। उल्टे कुछ तगा भी इस अन्याय में पुलिस को सहयोग देते थे। पुलिसवालों को देखते ही औरतें घर में छिप जाती थीं। इसलिए इस बार बस्ती के लोगों ने बिना मजदूरी के काम पर जाने से मना कर दिया। जो कर्मचारी बुलाने आया था, वह था तो चपरासी, पर अधिकारियों की तरह रौब दिखाता था। जाते–जाते वह धमकी दे गया।

उसकी धमकी के पंद्रहवें दिन ही पुलिस आ धमकी। बस्ती के दस लोगों को पकड़ कर ले गई। लेखक उस बस्ती में नहीं था। आने पर पता चला कि बारू, धन्नू, मानचंद आदि लोगों को पुलिस ले गई है। खून खौल उठा। किन्तु उसका बाल मन कर ही क्या सकता था? बस्ती के बड़े आदमी इलियास के घर के सामने पंचायत भवन में पुलिस का जुल्म जारी था और इलियास अपने बागीचे में बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा था। बस्ती से पकड़ कर लाये गए भंगियों को मुर्गा बनाकर पीटा जा रहा था और खाट पर बैठा इलियास तमाशा देख रहा था, जैसे यह सामान्य बात हो। गाँव के प्रधान के यहाँ लोग गए। किन्तु वे घर में होते हुए भी नहीं होने का बहाना बनाकर बाहर नहीं निकलें। इस अत्याचार के खिलाफ गाँव में बोलने वाला कोई नहीं था। लगभग घंटे भर तक पुलिस का तांडव चलता रहा पर किसी के कान पर जूं तक नहीं रेंगी। लेखक का बाल मन वितृष्णा से भर उठा और उन्हें सहसा स्कूल में पढ़ाई गई पन्त की कविता 'आह! ग्राम्य जीवन भी क्या' याद हो आई एवं उसके सारे शब्द उन्हें बनावटी एवं झूठे प्रतीत होने लगे। इस घटना के बाद गाँव का जीवन उन्हें नरक लगने लगा। धन्नू, हरनाम, गुरमान, फौमा, जसबीर एक–एक कर गाँव से भागने लगे।

बच्चा जिस परिवेश में जन्म लेता है, पलता–बढ़ता है। वहां घटित होने वाली छोटी–छोटी घटनाएं उसके मानस पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ती है और उसके सोच और विचारधारा के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। मुंशी जी से ओमप्रकाश वाल्मीकि बनने में इन घटनाओं का काफी योगदान रहा है। साथ ही, व्यक्ति केवल अपने लिए नहीं जीता है, उसका सम्बन्ध अपने घर, परिवार, समाज और वर्ग से जुड़ा होता है। उनकी मुक्ति में ही उसकी स्वयं की मुक्ति छिपी रहती है। वह अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान को अपने वर्ग और अपने समाज के साथ जोड़कर ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अब तक लेखक अपने परिवेश, अपने समाज, उसके अंतर्विरोध, उन पर होने वाले शोषण, शोषण के हथकंडों को देखता और भोगता रहा है। पर इस अपमान, अत्याचार, शोषण से मुक्ति का रास्ता उसे नहीं दिख रहा था। यह रास्ता उसे साहित्य दिखाता है। पुस्तक पढने में रूचि तो लेखक में बचपन से ही थी पर जिस पुस्तक ने लेखक को सर्वाधिक प्रभावित किया, नई दिशा दी, नई राह दिखाई, वह है 'डॉ अम्बेडकरः जीवन परिचय', लेखक– चंडिका प्रसाद जिज्ञासु। लेखक लिखते हैं– ''इन पुस्तकों के अध्ययन से मेरे भीतर एक प्रवाहमयी चेतना जागृत हो उठी थी। इन पुस्तकों ने मेरे गूंगेपन को शब्द दे दिये थे। व्यवस्था के प्रति विरोध की भावना मेरे मन में इन्हीं दिनों पुख्ता हुई थी।''[20] अम्बेडकर के जीवन संघर्ष ने लेखक को अन्दर तक झकझोर दिया। 'पूना पैक्ट' पढ़कर लेखक के मन से अनेक उलझने दूर हो गयी। लेखक लिखते हैं– ''अम्बेडकर को पढ़ लेने के बाद यह बात समझ में आ गई थी कि गांधी ने 'हरिजन' नाम देकर अछूतों को राष्ट्रीय–धारा में नहीं जोड़ा बल्कि हिन्दुओं को अल्पसंख्यक होने से बचाया। उनके हितों की रक्षा की। फिर भी वे उससे खफा थे क्योंकि उसने हरिजनों को सिर चढ़ाया। पूना पैक्ट की घटना ने मेरे मन से गांधी के भ्रम को पोंछ दिया था। पूना पैक्ट ने अम्बेडकर को हताश किया था।''[21] एक नया शब्द 'दलित' भी लेखक के शब्द–कोश में जुड़ गया था, जो हरिजनों का स्थानापन्न नहीं बल्कि करोड़ों अछूतों के आक्रोश की अभिव्यक्ति था। लेखक को एक दिशा मिल गई थी। जैसे–जैसे साहित्य से परिचय बढ़ता जा रहा था। लेखक का आक्रोश मुखर होता जा रहा था। कॉलेज में दोस्तों से तर्क–वितर्क होने लगी थी। अध्यापक के सामने अपनी शंकाएं व्यक्त करने लगे थे। यह साहस लेखक को साहित्य ने दिया था।

आर्थिक कठिनाइयों के कारण लेखक को बीच में ही पढ़ाई छोड़कर आर्डिनेंस फैक्ट्री में ऐप्रेंटिस का काम करना पड़ा। यह आई. टी. आई. नुमा सरकारी प्रशिक्षण संस्थान था। प्रशिक्षण पूरा होते ही नौकरी लगभग पक्की थी। देहरादून में एक वर्ष के प्रशिक्षण के बाद प्रतियोगिता परीक्षा हुई थी, जिसमें लेखक को चुन लिया गया था। अब उसे उच्च प्रशिक्षण के लिए आर्डिनेंस फैक्ट्री जबलपुर जाना पड़ा। वहां से एक बार फिर उच्च प्रशिक्षण के लिए अम्बरनाथ में दो वर्ष के लिए रहना पड़ा। लिखित परीक्षा में लेखक का चयन हो चुका था। प्रशिक्षण के बाद चंद्रपुर (महाराष्ट्र) आर्डिनेंस फैक्ट्री में लेखक को नौकरी मिल गई थी। इसी बीच उनकी शादी स्वर्णलता भाभी की छोटी बहन चंदर से हो गई।

1974 के जे.पी.आन्दोलन की गूंज के साथ लेखक की काव्य–रचना की गूंज भी सुनाई पड़ने लगी। ओमप्रकाश वाल्मीकि के नाम से पत्र–पत्रिकाओं में कविताएँ छपने लगीं। इन्हीं दिनों लेखक ने 'मेघदूत'

नामक नाट्य–संस्था की स्थापना की, जो समसामयिक विषयों और समस्याओं को चित्रित करने के कारण काफी चर्चित हुई। चंद्रपुर में लेखक दलित आन्दोलन और विचारों में पूरी तरह रम गये। 'दलित पैंथर' के बैनर तले दलित साहित्यकारों और कार्यकर्ताओं का एक अच्छा–ख़ासा जुटाव हो गया था। दलित कार्यकर्ताओं में जुझारूपन था। उसका संघर्ष और संकल्प देखकर उम्मीद जगती थी। लेकिन कार्यकर्ताओं में पारंपरिक जातिभेद की भावना थी। महार, भांग, चमार और मेहतर के भेद ही बाह्य रूप से भुलाने की बात कर रहे थे। लेकिन आतंरिक रूप में वे स्वयं इन भावनाओं में जकड़े हुए थे। मेहतर बस्तियों में जाने के समय हिचकिचाहट साफ़ दिखाई पड़ती थी। ऐसे पलों में लेखक का मन टूट जाता था। अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली थी। महार भी उनके साथ बौद्ध हो गये थे लेकिन ऐसे अनेक परिवार थे, जो बौद्ध होकर भी हिन्दू देवी–देवताओं में उलझे थे। लेखक लिखते हैं – ''मेहतर बस्तियों में बाबा साहब का सन्देश पहुंचा ही नहीं था। जो पहुंचा था वह भी 'जाति' के साथ। जब भी किसी मेहतर (वाल्मीकि) से बात होती तो वह चौंककर मेरी ओर देखता। बाबा साहब के लिए उनके मन में आदर था, लेकिन आन्दोलन के कार्यकर्ता और नेता उनके मन में विश्वास पैदा नहीं कर पाये थे। ये मेहतर थे, समाज में सबसे नीचे। यह भावना उन्हें आन्दोलन में जुड़ने से रोकती थी। वे दलित नेतृत्व को संदेह की दृष्टि से देखते थे।''[22] फिर कई लोग ऐसे थे जो दलित थे लेकिन सवर्णों की कृपा दृष्टि पाने के लिए दलितों से दूर भागते थे। उनके खिलाफ काम करते थे। उनकी गतिविधियों की सूचनाएं सवर्ण लोगों तक पहुंचाते थे। ये अंतर्विरोध दलित आन्दोलन को कमजोर करते थे। फिर भी लेखक और उनके साथी अपने प्रयास में लगे हुए थे।

चंद्रपुर में रहते हुए लेखक को अनेक नये अनुभव हुए। एक तरह से उनके जीवन का नवनिर्माण हुआ। वे ग्रामीण इलाकों में दलितों के बीच घूमते थे। दलित लोगों में अशिक्षा, गरीबी, बिमारी आदि को देखकर उनके रोंगटे खड़े हो जाते थे। लेखक लिखते हैं– ''चंद्रपुर जिले के सुदूर ग्रामीण अंचलों में आधुनिक प्रगति और सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं था। स्त्रियाँ ऊपरी भाग पर कोई वस्त्र नहीं पहनती थीं। खान–पान भी बेहद निम्न स्तर का। वनों पर आधारित खेती के नाम पर सिर्फ ज्वार और मोटा चावल। वह भी वर्षा के भरोसे। इन गाँवों में घूम–फिरकर जिस भारत के दर्शन हुए थे, वह घोर निर्धन और अंधविश्वासों में डूबा हुआ था।''[23] इन घटनाओं ने लेखक को काफी प्रभावित किया। अतीत के गौरवगान के बजाय जन सामान्य के दुःख दर्द को अपने लेखन में उतारना उन्हें ज्यादा सार्थक लगा। पर इसमें भी बड़ा रोग सवर्ण लोगों द्वारा शिक्षित–अशिक्षित किसी भी दलित व्यक्ति या समूह के साथ वैसा ही अपमानजनक व्यवहार करना था। वर्ष 1984 का जनवरी महीना था। अमरावती जिले के मल्कापुर स्थान पर एक ऐसी घटना घटी, जो सवर्णों की संकीर्ण मनोवृति की निकृष्ट प्रतीक थी। सातवीं कक्षा की मराठी पाठ्य पुस्तक में डॉ. अम्बेडकर पर एक पाठ था। एक ब्राह्मण शिक्षक के आदेश पर सभी छात्रों ने अपनी पुस्तक के उस पाठ के पृष्ठ फाड़ दिये थे। कक्षा में महार जाति के भी कुछ छात्र थे जिन्हें बाबा साहब के पाठ को फाड़ देना अनुचित लगा था। उन विद्यार्थियों ने पुस्तक के वे पन्ने चुपके से जाकर कूड़ेदान से उठा लिए थे और अपने–अपने घरों में जाकर दिखाये। बात फ़ैल गई थी। किसी ने घटना की सूचना के साथ उन फटे पन्नों को नागपुर के अखबार कार्यालय में दे दिया। फिर क्या था, 'लोकमत' अखबार ने फटे पन्नों के चित्र के साथ खबर छाप दी । खबर छपते ही जगह–जगह दलितों के धरना, जुलूस और विरोध के प्रदर्शन होने लगे। यह घटना दलित अस्मिता का प्रश्न बन गई थी। इसी प्रकार के अनेक कार्यक्रम और आन्दोलन होते रहते थे, जिनमें लेखक की प्रत्यक्ष भागीदारी होती। लेकिन दलित जागरण के ये कार्यक्रम विशेष रूप से महाराष्ट्र में ही हो रहे थे। लेखक और उनके साथियों के प्रयास से इनका विस्तार गुजरात और मध्यप्रदेश में भी हो गया। लेकिन उत्तर भारत के विशाल क्षेत्र में इस चेतना का फैलाव अभी बाकी था। फैक्ट्री का नया प्लांट खुलने पर लेखक का स्थानान्तरण देहरादून हो गया। अब उन्हें देहरादून जाना था। लेकिन चंद्रपुर छोड़ने का उनका मन नहीं करता था। चंद्रपुर लेखक के जीवन का एक नया अध्याय था। उन्हें जो कुछ नया मिला था, चंद्रपुर की ही देन थी। अंततः उन्हें देहरादून लौटना पड़ा।

देहरादून लौटने के बाद भी लेखन और अध्ययन का काम लगातार जारी रहा। कविता, नाटक के साथ ही कहानी की ओर भी झुकाव बढ़ने लगा। उनकी पहली कहानी 'जंगल की रानी' आदिवासी पृष्ठभूमि पर आधारित है जिसे उन्होंने 'सारिका' को प्रकाशनार्थ भेजी थी। यह कहानी स्वीकृत हो जाने के बाद भी वर्षों 'सारिका' के कार्यालय में पड़ी रही। पत्राचार करने पर दूसरी प्रति मांगी गई। किन्तु दूसरी प्रति भेजने पर दोनों ही प्रतियों को इस टिप्पणी के साथ लौटा दिया गया कि ''हम आपकी कहानी अभी तक छाप नहीं पाये हैं। हाँ, प्रतीक्षा का और हौसला हो तो वापस भेज दें।''[24] यानी दस वर्षों तक प्रतीक्षा के बाद और प्रतीक्षा यह कैसा मज़ाक था? वास्तव में साहित्य के भीतर भी एक सत्ता है। जो अंकुरित होते पौधों को कुचल देती है। 'सारिका' बंद हो गई पर उसके सम्पादक मंडल ने लेखक जैसे न जाने कितने रचनाकारों की हत्या की होगी। साहित्यिक क्षेत्र में यह कोई पहली घटना नहीं थी फिर नये रचनाकारों को रोकना भी शायद संपादक और साहित्यकारों की कोई रणनीति है। अंत में वही कहानी 'हंस' में राजेंद्र यादव ने बड़े प्रेम से छापी। इस सन्दर्भ में लेखक लिखते हैं– ''राजेंद्र यादव ने जिस स्नेह और प्यार के साथ मुझे छापा, मेरे लिए एक नया जन्म था, वरना मारनेवालों की कोई कमी नहीं थी।''[25] इस प्रकार समाज के अन्य लोगों के अतिरिक्त संपादकों के भी अनुभव हैं, जिनसे लेखक का पाला पड़ा था। इस प्रकार की अनेक घटनाएँ हैं, जिन्हें लेखक ने आत्मकथा में चित्रित किया है। कुछ अपनों की, कुछ परायों की। पराये तो पराये, अपने 'बाल्मीकि' उपनाम लेकर लेखक को अपनों के बीच भी परेशानियां उठानी पड़ी थी। परिवारवालों ने भी कई बार उनका नाम शादी–विवाह के कार्ड में नहीं छापा था। उन्हें इस नाम से अपरिचितों के बीच जाति खुल जाने का भय था। उनका

तर्क था कि जाति का ढोल गले में बाँध कर जीवन भर घूमना उचित नहीं है।

वास्तव में दलितों में जो पढ़–लिख गये हैं, उनके सामने एक भयंकर संकट खड़ा हुआ है– पहचान का संकट, जिससे उबरने का वे तात्कालिक और सरल रास्ता ढूँढने लगे हैं। वंशगोत्र को थोड़े– से संशोधन के साथ अपने नाम के साथ जोड़ने लगे हैं जैसे– चिनालिए से चंद्रिल, सौदे से सूद, पार्चा से पार्थ आदि। यह उन्हें आसान लगता है। इन सब के पीछे 'पहचान' की तड़प है, जो 'जातिवाद' की घोर अमानवीयता के कारण प्रतिक्रियास्वरूप उपजी है। दलित पढ़–लिख कर मुख्यधारा से जुड़ना चाहते हैं। सवर्ण उन्हें इस धारा में आने से रोकता है। उनसे भेद–भाव बरतता है। अपने से हीन मानता है। उसकी बुद्धिमता, योग्यता, कार्यकुशलता पर संदेह व्यक्त किया जाता है। प्रताड़ना के तमाम हथकंडे अपनाये जाते हैं। इसलिए वह अपना सरनेम छिपाना चाहते हैं। इस सन्दर्भ में लेखक का कथन है– ''इस पीड़ा को वही जानता है जिसने इसकी विभीषिका के नस्तर अपनी त्वचा पर सहे हैं। जिसने जिस्म को सिर्फ बाहर से ही घायल नहीं किया है अन्दर से भी छिन्न–भिन्न कर दिया है। अस्तित्व के इस संकट काल में मुझ जैसा कोई जाति बोधक सरनेम के साथ आता है तो वे तमाम लोग चौकन्ने हो जाते हैं। उन्हें लगता है जैसे कोई उनका भेद खोल रहा है क्योंकि समस्या से पलायन उन्हें सहज और सरल लगता है जबकि सच यह है कि बदलाव पलायन से नहीं, संघर्ष और संवाद से आयेगा।''[26]

ऐसी अनगिनत घटनाएं आत्मकथा में वर्णित हैं। बचपन से आज तक न जाने कितने दंश जिस्म पर ही नहीं, अपने मन पर भी सहे हैं। इस घृणा–द्वेष के पीछे कौन से ऐतिहासिक कारण हैं? जब–जब भी वर्ण–व्यवस्था को आदर्श माननेवालों और हिंदुत्व पर गर्व करने वालों से पूछा गया तो वे सीधे उत्तर देने के बजाय अक्सर टाल जाते हैं या नाराज हो जाते हैं। शान की बड़ी–बड़ी बातें करते हैं पर इस सच्चाई को स्वीकार नहीं कर पाते कि आदमी को जन्म के आधार पर मानवीय मूल्यों से वंचित रखना किसी भी तरह न्यायसंगत नहीं है। सवर्णों के मन में कई प्रकार के पूर्वाग्रह हैं जो आपसी संबंधों को सहज नहीं होने देते हैं।

भारतीय समाज में 'जाति' एक महत्वपूर्ण घटक है। 'जाति' पैदा होते ही व्यक्ति की नियति तय कर देती है। पैदा होना व्यक्ति के अधिकार में नहीं होता। यदि होता तो कोई भंगी के घर में क्यों पैदा होता? जो स्वयं को इस देश की महान सांस्कृतिक धरोहर के तथाकथित संरक्षक कहते हैं, क्या वे अपनी मर्जी से उन घरों में पैदा हुए हैं? इसे साबित करने के लिए अनेक धर्मग्रंथों का सहारा वे जरुर लेते हैं। वे धर्मशास्त्र जो समता, स्वतंत्रता की हिमायत नहीं करते बल्कि सामंती प्रवृत्तियों को स्थापित करते हैं। तरह–तरह के मिथक रचे गये– वीरता के, आदर्शों के, पर इसका परिणाम क्या निकला? पराजित, निराशा, निर्धनता, अज्ञानता, संकीर्णता, कूपमंडूकता, धार्मिक जड़ता, पुरोहितवाद के चुंगल में फंसा, कर्मकांड में उलझा समाज, जो टुकड़ों में बंटकर कभी यूनानियों से हारा, तो कभी शकों से। कभी हूणों से, कभी अफगानों से, कभी मुगलों से, कभी फ्रांसीसियों से और कभी अंग्रेजों से हारा। फिर भी अपनी वीरता और महानता के नाम पर कमजोर और असहायों को पीटता रहा। आत्मश्लाधा में डूबकर सच्चाई से मुंह मोड़ लेना, इतिहास से सबक न लेना, किसी भी राष्ट्र के निर्माण की कल्पना नहीं हो सकती।

निष्कर्ष

इस प्रकार 'जूठन' न केवल किसी दलित लेखक की आत्मकथा है, बल्कि यह दलित जीवन का दस्तावेज़ भी है और सम्पूर्ण भारतीय समाज का दिग्दर्शन भी। उनकी असंगति–विसंगतियों का दर्पण भी है और सामाजिक गलीज़ से मुक्ति का एक लेखकीय प्रयास भी। आत्मकथाकार समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन चाहता है। वह सुधार नहीं, क्रान्ति चाहता है। सुधार से गुलामी की पीड़ा कुछ कम हो सकती है पर गुलामी ख़त्म नहीं हो सकती। दलितों का कल्याण केवल सम्पूर्ण स्वतंत्रता, समता और क्रान्ति से ही हो सकती है। वह जीना चाहता है और सम्मान से जीना चाहता है परन्तु नीच, अछूत, महार, भांग, चूहड़ा, चमार बनकर नहीं, बल्कि एक अच्छा इंसान बनकर जीना चाहता है और इसी चाहत की परिणति है 'जूठन'।

अंत टिप्पणी

1 *वाल्मीकि, ओमप्रकाश, जूठन, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण–2009, भूमिका से।*
2 *वही, पृ.11*
3 *वही, पृ.21*
4 *वही, पृ.21*
5 *वही, पृ.54*
6 *वही, पृ.40*
7 *वही, पृ.119*
8 *वही, पृ.14*
9 *वही, पृ.14,15*
10 *वही, पृ.15*
11 *वही, पृ.15*
12 *वही, पृ.15*
13 *वही, पृ.34*
14 *वही, पृ.34*
15 *वही, पृ.35*
16 *मीनू, डॉ. रजत रानी, हिन्दी दलित कथा साहित्य : अवधारणा और विधाएँ, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण–2010, पृ. 102*
17 *वाल्मीकि, ओमप्रकाश, जूठन, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण–2009, पृ.61*
18 *वही, पृ.61*
19 *वही, पृ.62*
20 *वही, पृ.89*
21 *वही, पृ.89*
22 *वही, पृ.132*
23 *वही, पृ.134,135*
24 *वही, पृ.147*
25 *वही, पृ.147*
26 *वही, पृ.152*